पूर्ण न्यायपीठ

माननीय मुख्य न्यायाधीश डी.के. महाजन और माननीय न्यायाधीश आर.एस. नरूला और माननीय न्यायाधीश प्रीतम सिंह पट्टर के समक्ष

अमरीक सिंह आदि - अपीलकर्ता

बनाम

करनैल सिंह आदि - उत्तरदाता

1972 की नियमित द्वितीय अपील संख्या 471

2 मई 1974

सिविल प्रक्रिया संहिता (1908 का अधिनियम संख्या 5)-आदेश 32, नियम 3 वयस्क और अवयस्क प्रतिवादियों के खिलाफ मुकदमा दायर- अवयस्क के संरक्षक एड-लिटेम की नियुक्ति में आदेश 32 नियम 3 के प्रावधानों का पालन नहीं किया गया-वयस्क का हित प्रतिवादी अवयस्कों के समान हैं-ऐसे मुकदमे में पारित डिक्री- क्या यह डिक्री निरर्थक हैं ।

अभिनिर्धारित, कि प्रक्रियात्मक कानून के तकनीकी प्रावधानों पर बहुत अधिक जोर देने से समय-समय पर बेतुके परिणाम हो सकते हैं और पार्टियों के साथ अन्याय हो सकता है। प्रत्येक मामले का निर्णय उसके अपने तथ्यों के आधार पर किया जाना चाहिए और कोई सामान्य नियम निर्धारित करना उचित नहीं है। मामले की जड़ यह है कि जहां एक अवयस्क किसी मुकदमे में प्रतिवादी है तो यह देखा जाना चाहिए कि क्या उसका प्रभावी ढंग से प्रतिनिधित्व किया गया है। सिविल प्रक्रिया संहिता के आदेश 32, नियम 3 के प्रावधानों का अनुपालन न करने पर, जो निस्संदेह अनिवार्य हैं, मुकदमे में पारित डिक्री को हर मामले में निरर्थक

नहीं माना जाएगा। यह केवल तभी होता है जब एक न्यायालय इस निष्कर्ष पर पहुंचता है कि अवयस्क का प्रभावी ढंग से प्रतिनिधित्व नहीं किया गया था और इस प्रकार वह वास्तव में कार्यवाही में पक्षकार नहीं था और इसीलिए कि पारित डिक्री अमान्य होगी और अवयस्क या तो इसे अनदेखा कर सकता है या इससे बच सकता है। जहां वयस्क और अवयस्क प्रतिवादियों के खिलाफ मुकदमा दायर किया जाता है और अवयस्क का प्रतिनिधित्व एक संरक्षक द्वारा किया जाता है, हालांकि संरक्षक की नियुक्ति संहिता के नियम 32 के आदेश 32 में निर्धारित प्रक्रिया के अनुरूप नहीं है, फिर भी यदि वयस्क और अवयस्क प्रतिवादियों के हित समान हैं और प्रमुख प्रतिवादी प्रभावी ढंग से मुकदमे को आगे बढ़ाते हैं, यह शायद ही कहा जा सकता है कि अवयस्क का प्रभावी ढंग से प्रतिनिधित्व नहीं किया गया हैं। ऐसे वाद में पारित डिक्री अमान्य नहीं होगी।

(पैरा 13 & 14)

मामले से जुड़े कानून के एक महत्वपूर्ण प्रश्न के निर्णय के लिए माननीय श्री न्यायमूर्ति डी.के. महाजन द्वारा 22 सितंबर, 1972 को मामले को एक बड़ी पीठ के पास भेजा गया। माननीय मुख्य न्यायाधीश श्री डी.के. महाजन, माननीय श्री न्यायमूर्ति आर.एस. नरूला और माननीय श्री न्यायमूर्ति प्रीतम सिंह पट्टर की पूर्ण पीठ ने अंततः 2 मई, 1974 को मामले का फैसला किया।

श्री एम.एल. जैन, जिला न्यायाधीश, करनाल के न्यायालय के 2 मार्च 1972 के आदेश के विरुद्ध नियमित द्वितीय अपील, श्री वी.के. जैन, उप न्यायाधीश प्रथम श्रेणी, कैथल के दिनांक 30 अप्रैल, 1971 के खर्चों के साथ निर्णय की पुष्टि करते हुए, प्रतिवादी 1 से 4 को 30 मई, 1971 को या उससे पहले 21412.50 रुपये के भुगतान पर वाद भूमि के कब्जे की लागत के साथ वादी को एक डिक्री प्रदान की गयी, और ऐसा न करने पर वादी का वाद लागत सहित खारिज कर दिया जाएगा। आगे आदेश देते हुए कहा कि उपरोक्त रकम जमा करने से पहले वादी अपने द्वारा जमा की गई ज़ारे पंजुम की रकम, यदि कोई हो, काट सकता है। सतनाम सिंह

और अजीत सिंह प्रतिवादियों द्वारा दायर अपील संख्या 48/13/1971 को भी लागत के साथ खारिज कर दिया गया।

अपीलकर्ताओं के लिए पी.एस. जैन और एस.एस. राठौड़, अधिवक्ता।
एस. एल. पुरी, अधिवक्ता, मुनेश्वर पुरी, रामेश्वर पुरी और वी.के. झांजी, उत्तरदाता की ओर से की ओर से अधिवक्ता।

निर्णय

मुख्य न्यायाधीश दीं. के. महाजन :

(1) जिस प्रश्न के कारण इस मामले की सुनवाई एक बड़ी पीठ द्वारा करना आवश्यक हो गया है, वह यह है कि क्या आदेश 32, नियम 3, सिविल प्रक्रिया संहिता के प्रावधानों का हर मामले में अनुपालन न करने से डिक्री निरर्थक हो जाती है?

(2) निचली अदालतों ने वादी के मुकदमे पर फैसला उनके पक्ष में सुनाया। यह डिक्री करनैल सिंह वादी द्वारा दायर प्री-एम्प्शन द्वारा कब्जे के मुकदमे में पारित की गई थी। विक्रय जिसको शूफा करना था उससे वादी के दादा आसा सिंह द्वारा किया गया था। प्रतिवादी 1 से 4 हैं क्रेता, अमरीक सिंह और तीन अन्य हैं। वे सगे भाई हैं। प्रतिवादी 3 और 4, अमरीक सिंह और वीर सिंह अवस्यक हैं। वाद में अवयस्क पर उनके संरक्षक के रूप में सगे भाई सतनाम सिंह के माध्यम से मुकदमा दायर किया गया था। सिविल प्रक्रिया संहिता के आदेश 32, नियम 3 के तहत एक आवेदन इस आशय का किया गया था कि सतनाम सिंह, प्रतिवादी संख्या 1, अवयस्क के सबसे बड़े भाई, को उनका संरक्षक नियुक्त किया जाए। यह भी बताया गया कि अजीत सिंह, भाई, मंगल सिंह पिता स्व. तीरथ कौर, मां, और कोर्ट का एक अधिकारी अवयस्क के संरक्षक के रूप में नियुक्त होने के योग्य थे। यह कहा गया था कि प्रतिवादी नंबर 1 का अवयस्क के प्रतिकूल कोई हित नहीं था; और यदि प्रतिवादी संख्या 1 संरक्षक के रूप में कार्य करने से इंकार करता है तो उल्लिखित अन्य व्यक्तियों में से किसी को संरक्षक के रूप में नियुक्त किया जाएगा। इस

आवेदन का नोटिस अवयस्क के साथ-साथ प्रतिवादी 2, पिता और मां को भी जारी किया गया था। पिता या माता को नोटिस की तामील नहीं हुई, लेकिन दोनों प्रतिवादियों के साथ-साथ अवयस्क को भी नोटिस तामिल हुआ था। प्रतिवादी नंबर 1 ने संरक्षक के रूप में कार्य करने से इनकार कर दिया और उसके बाद अदालत ने श्री मदन गोपाल, अधिवक्ता को प्रतिवादी 3 और 4 के लिए अदालत संरक्षक के रूप में नियुक्त किया।

(3) दोनों वयस्क भाइयों द्वारा सभी संभावित आधारों पर मुकदमा लड़ा गया। निचली अदालत ने मुकदमे का फैसला वादी के पक्ष में सुनाया और इस फैसले को विद्वान जिला न्यायाधीश ने बरकरार रखा है। विद्वान जिला न्यायाधीश के समक्ष यह तर्क उठाया गया कि ट्रायल कोर्ट की डिक्री अमान्य थी, क्योंकि आदेश 32, नियम 3 के प्रावधानों का अनुपालन नहीं किया गया था। इस विवाद को निचली अपीलीय अदालत ने खारिज कर दिया था। निचली अपीलीय अदालत के फैसले के खिलाफ इस अदालत में दूसरी अपील दायर की गई थी। यह अपील 22 सितंबर, 1972 को मेरे समक्ष रखी गई थी और मैंने निर्देश दिया था कि जहां तक दोनों अवयस्क का संबंध है, इसकी सुनवाई पूर्ण पीठ द्वारा की जाए। वयस्क प्रतिवादियों द्वारा दायर अपील को गुण-दोष के आधार पर खारिज कर दिया गया। गुण-दोष के आधार पर, अवयस्क प्रतिवादियों के संबंध में निर्णय समान होगा।

(4) संदर्भित प्रश्न को निर्धारित करने के लिए आगे बढ़ने से पहले सिविल प्रक्रिया संहिता की धारा 99 पर ध्यान देना उचित होगा जो निम्नलिखित शर्तों में है:

> " पक्षकारों या वादहेतुको के ऐसे कुसंयोजन या असंयोजन के बाद की किन्ही भी कार्यवाहियों में ऐसी गलती, त्रुटि या अनियमितता के कारण जिससे मामले के गुणागुण या न्यायालय की अधिकारता पर प्रभाव नहीं पड़ता हैं कोई भी डिक्री अपील में न तो उल्टी जाएगी और ना उसमें सारभूत

फेरफार किया जाएगा और न कोई मामला अपील में प्रतिप्रेषित किया जाएग।"

किरण सिंह बनाम चमन पासवान (1. ए.आई.आर 1954 एस.सी. 340) में, धारा 99 से निपटते समय उच्च न्यायालय के आधिपत्य द्वारा यह प्रेक्षित किया गया था कि "जब एक मामले की सुनवाई योग्यता और निर्णय के आधार पर प्रदान किया गया हैं तो इसे विशुद्ध रूप से तकनीकी आधार पर उलटने के लिए उत्तरदायी नहीं होना चाहिए, जब तक कि इसके परिणामस्वरूप न्याय की विफलता न हुई हो..."। सिविल प्रक्रिया संहिता के प्रावधानों से निपटने के दौरान यह **संग्राम सिंह बनाम चुनाव न्यायाधिकरण, कोटा (2. ए.आई.आर. 1955 एस.सी. 425)**, में इस प्रकार प्रेक्षित किया है:-

"अब एक प्रक्रिया संहिता को ऐसे ही माना जाना चाहिए। यह 'प्रक्रिया' है, जो न्याय को सुविधाजनक बनाने और इसके लक्ष्यों को आगे बढ़ाने के लिए बनाई गई है: सज़ा और दंड के लिए दंडात्मक अधिनियम नहीं हैं यह; लोगों को परेशान करने के लिए डिज़ाइन की गई चीज़ नहीं हैं ये। बहुत तकनीकी निर्माण इसलिए, ऐसे अनुभाग जो व्याख्या की उचित लोच के लिए कोई जगह नहीं छोड़ते हैं, उनसे सावधान रहना चाहिए (बशर्ते कि हमेशा 'दोनों' पक्षों को न्याय मिले) ऐसा न हो कि न्याय को आगे बढ़ाने के लिए डिज़ाइन किए गए साधनों का उपयोग इसे विफल करने के लिए किया जाए।

इसके बाद, यह तथ्य हमेशा दिमाग में रहना चाहिए कि हमारी प्रक्रिया के नियम प्राकृतिक न्याय के सिद्धांत पर आधारित हैं, जिसके लिए आवश्यक है कि पुरुषों की अनसुनी निंदा न की जाए, निर्णय उनकी पीठ पीछे न लिए जाएं।कि उनके जीवन और संपत्ति को प्रभावित करने वाली कार्यवाही उनकी अनुपस्थिति में जारी नहीं रहनी चाहिए

और उन्हें उनमें भाग लेने से रोका नहीं जाना चाहिए। बेशक, अपवाद होने चाहिए और जहां उन्हें स्पष्ट रूप से परिभाषित किया गया है, वहां उन्हें प्रभावी बनाया जाना चाहिए। लेकिन कुल मिलाकर, और उस प्रावधान के अधीन, प्रक्रिया के हमारे नियमों को उस सिद्धांत के प्रकाश में, जहां भी संभव हो, समझा जाना चाहिए।

(5) जिस प्रश्न के निर्धारण की आवश्यकता है, वह यह है कि क्या आदेश 32, नियम 3 के प्रावधानों का अनुपालन न करना, जिसका प्रासंगिक भाग निम्नलिखित शर्तों में है, न्यायालय के निर्णय को निरपवाद रूप से रद्द कर देता है? -

"र-3 (1) जहां प्रतिवादी अवयस्क है, अदालत, उसके अवयस्क होने के तथ्य से संतुष्ट होने पर, ऐसे अवयस्क के मुकदमे के लिए संरक्षक के रूप में एक उचित व्यक्ति को नियुक्त करेगी।

(2) मुकदमे के लिए संरक्षक की नियुक्ति का आदेश अवयस्क के नाम पर या वादी की ओर से आवेदन पर प्राप्त किया जा सकता है।

(3) वादी अपने वादपत्र के साथ अवयस्क के रिश्तेदारों और अन्य व्यक्तियों की एक सूची, उनके पते के साथ दाखिल करेगा, जो प्रथम दृष्टया अवयस्क प्रतिवादी के मुकदमे के लिए संरक्षक के रूप में कार्य करने में सक्षम होने की सबसे अधिक संभावना है। यह सूची उपरोक्त उप-नियम (2) के तहत वादी द्वारा एक आवेदन का गठन करेगी।

(4) .....

(5) .....

(6) मुकदमे के लिए संरक्षक की नियुक्ति के लिए कोई भी आवेदन और इस नियम के तहत प्रस्तुत कोई भी सूची इस तथ्य को सत्यापित करने वाले शपथपात्र द्वारा समर्पित

होगा कि हित अवस्यक का हैं उस हित के प्रतिकूल कोई हित प्रस्थापित सरंक्षक का नहीं हैं और ऐसे नियुक्त किए जाने के लिए ठीक व्यक्ति हैं ।

(7) इस नियम के तहत किसी भी आवेदन पर कोई आदेश नहीं दिया जाएगा, सिवाय इसके कि उस संबंध में सक्षम प्राधिकारी द्वारा नियुक्त या घोषित किए गए अवयस्क के किसी संरक्षक को नोटिस दिया जाए या, जहां ऐसा कोई संरक्षक नहीं है, वहां पिता या अन्य अवयस्क के प्राकृतिक संरक्षक को नोटिस दिया जाए, या जहां कोई पिता या अन्य प्राकृतिक संरक्षक नहीं है, उस व्यक्ति को जिसकी देखभाल में अवयस्क है, और और किसी भी आपत्ति को सुनने के बाद जो किसी व्यक्ति की ओर से आग्रह किया जा सकता है इस उपनियम के तहत नोटिस दिया जाएगा :

बशर्ते कि यदि न्यायालय उचित समझे तो अवयस्क को भी नोटिस जारी कर सकता है।"

(6) यह उल्लेख किया जा सकता है कि सभी अवैध निर्णय जरूरी नहीं कि निरर्थक हों। अवैधताएँ स्वाभाविक रूप से निर्णय को अपूर्ण बना देंगी। यदि अवैधता किसी मामले की जड़ पर प्रहार करती है और अन्याय का कारण बनती है, तो निश्चित रूप से उसे दूर करना होगा। लेकिन यदि अवैधता के परिणामस्वरूप कोई अन्याय नहीं होता है, तो केवल यह तथ्य कि निर्णय अवैध है, निर्णय को रद्द नहीं कर देगा। इन टिप्पणियों के आलोक में ही वर्तमान मामले पर विचार किया जाना चाहिए। अब, क्या तथ्य सिद्ध हैं? उनका कहना है कि जिस विक्रय को प्री-एम्प्शन की जानी थी, इन चार भाइयों के पक्ष में है, जिनमें से दो वयस्क थे। इस प्रकार, अवयस्क भाइयों के साथ-साथ वयस्क भाइयों के हित भी समान थे। वयस्क भाइयों ने सभी संभावित आधारों पर प्री-एम्प्शन का मुकदमा लड़ा। निःसंदेह, निचली अदालत आदेश 32, नियम 3(7) के मामले में सही ढंग से आगे बढ़े, लेकिन इसका पूरी तरह से पालन करने में विफल रहे। इसने पिता और माता पर नोटिस की तामील देखने का इंतजार नहीं किया। भाई ने कार्रवाई करने से इनकार कर दिया था और इस स्थिति में

एक कोर्ट संरक्षक नियुक्त किया गया था। इन तथ्यों पर यह निर्धारित किया जाना है कि क्या न्याय में विफलता हुई है और अवयस्को के हितों पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ा है। कम से कम कहें तो ऐसा नहीं हुआ है। जहां तक निर्णय किए गए मामलों का सवाल है, वहां स्पष्ट संघर्ष प्रतीत होता है, लेकिन यह वास्तविक नहीं है। वास्तव में, प्रत्येक मामले में अपने स्वयं के विशिष्ट तथ्य होते हैं और इसलिए, उसमें की गई टिप्पणियाँ आवश्यक रूप से उस विशेष मामले के तथ्यों तक ही सीमित होती हैं।

(7) अब मैं अपीलकर्ताओं के विद्वान अधिवक्ता द्वारा उद्धृत मामलों से निपटने का प्रस्ताव करता हूँ। वे हैं:

(1) **सैयद महबूब हुसैन शाह और अन्य बनाम अंजुमन इमदाद क़र्ज़ा;** (3. ए.आई.आर. 1942 लाह. 129)

(2) **राजेंद्र प्रसाद बनाम. प्रबोध चंद्र मित्रा;** (4. ए.आई.आर. 1921 पैट. 25)

(3) **कृष्णबिहारी बनाम केदार नाथ**; (5. ए.आई.आर. 1954 पैट. 349)

(4)**रामचंदर सिंह बनाम. गोपी कृष्ण**; (6. ए.आई.आर. 1957 पैट. 290)

(5) **रामचन्द्र पीडी. सिंह और अन्य बनाम रामपुनीत सिंह और अन्य**; (7. ए.आई.आर. 1968 पैट. 12)

(6) **निर्मल चन्द्र रे बनाम. खंडू घोष**; (8. ए.आई.आर. 1965 कैल. 562)

(7) **एस. गोविंदन बनाम. लक्ष्मी भारती;** (9. ए.आई.आर. 1964 केर. 244)

(8) **इंद्रपाल सिंह बनाम सरनाम सिंह;** (10. ए.आई.आर. 1951 सभी. 823)

(9) **रंगम्मल बनाम. माइनर अप्पासामी** (11. ए.आई.आर. 1973 मैड. 12)

(8) जहां तक सैयद महबूब हुसैन शाह(3) के मामले का सवाल है, यह निर्णय इस प्रस्ताव के लिए एक अधिकार है कि यदि कोई अवयस्क का

बिल्कुल भी प्रतिनिधित्व नहीं है, तो उसके खिलाफ डिक्री अमान्य है। प्रश्न यह है कि जहां न्यायालय द्वारा संरक्षक एड-लिटेम नियुक्त किया गया है, लेकिन आदेश 32, नियम 3 की प्रक्रिया का सख्ती से पालन नहीं किया जाता है, तो क्या डिक्री को अमान्य कहा जा सकता है? जहां तक यहाँ अवयस्क का सवाल है, उनका प्रतिनिधित्व किया गया है। लेकिन, उनका प्रतिनिधित्व करने वाले व्यक्ति की नियुक्ति निर्धारित प्रक्रिया का सख़्ताई से पालन नहीं कर कर की गयी है। अधिक से अधिक, यह अवैधता की श्रेणी में आ सकता है, लेकिन ऐसी प्रकृति का नहीं कि डिक्री को रद्द कर दिया जाए। लाहौर उच्च न्यायालय के समक्ष मामले में, अवयस्क के लिए कोई संरक्षक नियुक्त नहीं किया गया था।

(9) जहां तक राजेंद्र प्रसाद के मामले(4) का सवाल है, इस मामले में वादी द्वारा किए गए आवेदन पर एक संरक्षक एड-लिटेम नियुक्त किया गया था और उस आवेदन की कोई सूचना अवयस्क या संरक्षक को नहीं दी गई थी, जिनको नियुक्त करने का प्रस्ताव था और इस स्थिति में यह निर्धारित किया कि आदेश क्षेत्राधिकार के बिना था। इस मामले में, शुरुआत में अवयस्क का प्रतिनिधित्व उनकी मां ने किया था जिनकी मृत्यु हो गई थी और उनकी मृत्यु के बाद वादी द्वारा न्यायालय संरक्षक की नियुक्ति के लिए एक आवेदन किया गया था और उस आवेदन की कोई सूचना अवयस्क या उन अभिभावकों को नहीं दी गई थी जिनको नियुक्त करने का प्रस्ताव रखा गया। प्रस्तावित संरक्षक को नोटिस इस कारण से आवश्यक है कि हो सकता हैं कि वह संरक्षक के रूप में कार्य करना पसंद ना करे और यदि ऐसा है, तो अवयस्क के हितों को नुकसान होगा। इसलिए, इस मामले का वर्तमान मामला के तथ्यों से कोई सादृश्य नहीं है।

(10) कृष्ण बिहारी के मामले में(5), माँ प्रमाणित संरक्षक थी, लेकिन इसके बावजूद एक मौलवी मुहम्मद मजीद, एक अधिवक्ता, को संरक्षक नियुक्त किया गया था। यह प्रक्रिया मां को भी दी गई लेकिन उन्हें इस प्रक्रिया में प्रमाणित संरक्षक के रूप में वर्णित नहीं किया गया। इस दुर्बलता के बावजूद इसे इस प्रकार से निर्धारित किया गया:-

"जब न्यायालय, इस तथ्य से अनभिज्ञ होकर कि अवयस्क के पास एक सक्षम प्राधिकारी द्वारा नियुक्त संरक्षक है, किसी अन्य व्यक्ति को नियुक्त करता है, तो यह अपने आप में मुकदमे में पारित डिक्री या डिक्री के निष्पादन में आयोजित विक्रय को रद्द नहीं करता है। संपूर्ण प्रश्न यह है कि क्या अवयस्क के प्रति कोई पूर्वाग्रह उत्पन्न हुआ है, और, अनियमितता के कारण अवयस्क के प्रति धोखाधड़ी या पूर्वाग्रह के किसी भी आरोप के अभाव में, कार्यवाही को वैध माना जाना चाहिए।"

ऐसा प्रतीत होगा कि यह निर्णय विद्वान अधिवक्ता के तर्क का समर्थन नहीं करता है और उस दृष्टिकोण के अनुरूप है जिसे मैं लेने के लिए इच्छुक हूं, अर्थात्, आदेश 32, नियम 3 के प्रावधानों का सख्ती से पालन न करना, जरूरी नहीं कि डिक्री को रद्द कर दिया जाए, या, दूसरे शब्दों में, अमान्य कर दिया जाए।

(11) जिस मामले पर अपीलकर्ताओं के विद्वान अधिवक्ता ने बहुत मजबूत आश्रय जताया है वह है रामचंदर सिंह बनाम गोपी कृष्ण (6)। इस मामले में, निष्पादन की कार्यवाही के दौरान, पिता की मृत्यु पर उसके अवयस्क बेटे को उसकी माँ की संरक्षकता में प्रतिस्थापित कर दिया गया था। आदेश 32, नियम 3(4) के तहत अवयस्क या उसकी मां, उसके प्रस्तावित संरक्षक को कोई नोटिस नहीं दिया गया। एक अधिवक्ता को संरक्षक ऐड-लिटेम के रूप में नियुक्त किया गया था। वादी ने वयस्क होने पर यह घोषणा करने के लिए मुकदमा दायर किया कि वादी के हिस्से की विक्रय अधिकार क्षेत्र के बिना हैं , निरर्थक और उस पर बाध्यकारी नहीं थी। निचली अदालत ने निर्धारित किया कि विक्रय अवयस्क को बाध्य नहीं करेगी क्योंकि एक अधिवक्ता को अवयस्क या उसके प्राकृतिक संरक्षक को आदेश 32, नियम 3(4) के तहत बिना किसी नोटिस के संरक्षक एड-लिटेम नियुक्त किया गया था। जब मामला उच्च न्यायालय

के समक्ष आया, तो इसे एकल न्यायाधीश के समक्ष रखा गया, जिन्होंने इसे डिवीजन बेंच को भेज दिया। डिवीजन बेंच द्वारा यह प्रेक्षित किया गया:-

> "इसलिए, यदि किसी मुकदमे में, या निष्पादन कार्यवाही में किसी अवयस्क का प्रभावी ढंग से प्रतिनिधित्व नहीं किया जाता है, तो ऐसा दोष केवल रूप का नहीं है, बल्कि सार का है, और, यह न्यायालय के अधिकार क्षेत्र की जड़ तक जाता है, और, इसलिए, कानून की नजर में ऐसा अवयस्क इस तरह के मुकदमे, या निष्पादन कार्यवाही में एक पक्ष नहीं है, और, इस तरह, ऐसे मुकदमे में उसके खिलाफ कोई आदेश पारित नहीं किया गया है, या कोई डिक्री की गई है, और ना ही कोई कार्यवाही की गई है, या या ना ही उसकी अनुपस्थिति में उसके विरुद्ध एकपक्षीय कार्यवाही करते हुए की गई विक्रय, उसे या उसकी संपत्ति को बिल्कुल बाध्य कर देगी।"

इसके बाद, विद्वान न्यायाधीशों ने कृष्ण बिहारी के मामले(5) सहित इस विषय पर पूरे मामले के कानून पर चर्चा की, और इस प्रकार निर्धारित किया -

> "1. संहिता का आदेश 32, नियम 3(4) अनिवार्य और अत्यावश्यक है, और इसकी शर्तों का सख्ती से पालन किया जाना चाहिए। जब तक आदेश 32, नियम 3(4) के संदर्भ में नोटिस अवयस्क और उसके संरक्षक, और, जब ऐसे नोटिस की सेवा के बावजूद वे उपस्थित होने का विकल्प नहीं चुनते हैं, केवल तभी और, तभी, न्यायालय को अवयस्क के लिए संरक्षक एड-लिटेम नियुक्त करने का क्षेत्राधिकार प्राप्त होता है ऐसे। लेकिन, फिर भी, पहले अवयस्क के लिए संरक्षक नियुक्त करते समय न्यायालय को, आदेश 32, नियम 4(3) के अनुसार, अवयस्क के लिए संरक्षक नियुक्त किए जाने के लिए प्रस्तावित व्यक्ति की सहमति प्राप्त करनी चाहिए।

इन अनिवार्य प्रावधानों की अवज्ञा का परिणाम यह होता है कि कानून की नजर में मुकदमे में कोई उचित पक्ष नहीं है, और अवयस्क मुकदमे या कार्यवाही में पक्षकार नहीं है, भले ही उसका नाम रिकॉर्ड में दिखाई दे, और, इस प्रकार, उसे कानून में पूरी तरह से गैर-प्रतिनिधित्व वाला माना जाना चाहिए, और परिणामस्वरूप, ऐसे अवयस्क के खिलाफ आगे बढ़ने का न्यायालय का अधिकार क्षेत्र समाप्त हो जाएगा और, न्यायालय के पास कोई निर्णय देने, या ऐसे अवयस्क के खिलाफ कोई आदेश पारित करने का कोई अधिकार क्षेत्र नहीं होगा और जब ऐसा अवयस्क निष्पादन की कार्यवाही में एक पक्ष नहीं है, तो न्यायालय के पास भी उसकी संपत्ति बेचने का कोई अधिकार क्षेत्र नहीं है, क्योंकि न्यायालय के पास किसी ऐसे व्यक्ति की संपत्ति बेचने का कोई अधिकार क्षेत्र नहीं है, जो एक पक्ष ही नहीं है, किसी मुक़दमे के लिए, या निष्पादन की कार्यवाही के लिए।

मात्र तथ्य कि एक अधिवक्ता न्यायालय द्वारा नियुक्त संरक्षक-ऐड-लिटेम रहा है, संहिता के आदेश 32, नियम 3(4) के अनिवार्य प्रावधानों का अनुपालन किए बिना, और अग्रसर तथ्य यह है कि ऐसे अधिवक्ता-संरक्षक ने ऐसे अवयस्क की ओर से कार्य किया है, और उसे ऐसे अवयस्क की ओर से कार्य करने की शक्ति प्रदान नहीं की जा सकती है, और उसे संहिता के आदेश 32, नियम 3(4) के स्पष्ट प्रावधानों के तहत ऐसे संरक्षक के रूप में कार्य करने से अयोग्य माना जाना चाहिए और इसलिए, ऐसे मामले में भी , अवयस्क कार्यवाही में उचित रूप से एक पक्ष नहीं माना जाएगा और उसके खिलाफ दिया गया निर्णय या पारित कोई भी आदेश अधिकार क्षेत्र के बिना है, और अमान्य है, और ऐसे मामले में न्यायालय के पास उसकी संपत्ति बेचने के लिए आगे बढ़ने का कोई क्षेत्राधिकार नहीं होगा।

2. हालाँकि, जहाँ केवल एक दोष है, जैसे कि किसी व्यक्ति को संरक्षक-ऐड-लिटेम के रूप में नियुक्त करने के औपचारिक आदेश

का अभाव, बावजूद इसके की आदेश 32, नियम 3(4), और, आदेश 32 नियम 4(3) के संदर्भ में नोटिस की तामील हो चुकी है, संरक्षक की नियुक्ति में ऐसा दोष आवश्यक रूप से कार्यवाही के लिए घातक नहीं होगा, जब तक कि यह नहीं दिखाया जाता कि दोष के कारण अवयस्क पर पूर्वाग्रह था क्योंकि ऐसा दोष महज एक अनियमितता है, और केवल स्वरूप का दोष है, सार का नहीं, और यह ऐसे अवयस्क के खिलाफ कोई भी निर्णय देने के लिए न्यायालय के अधिकार क्षेत्र की जड़ तक नहीं जाता है।

3. इसलिए, जब संहिता के आदेश 32 के नियम 3 के उप-नियम (4) की पूरी तरह से अवहेलना की गई है, तो ऐसी अवज्ञा के परिणामस्वरूप संरक्षक नियुक्त करने वाला आदेश रद्द हो जाता है, और इसलिए, ऐसे में मामले में अवयस्क के प्रति पूर्वाग्रह या कोई पूर्वाग्रह नहीं होने का सवाल अप्रासंगिक है। इस तरह का दोष सारगर्भित होने और न्यायालय के अधिकार क्षेत्र की जड़ तक जाने पर, अवयस्क के प्रति पूर्वाग्रह या कोई पूर्वाग्रह नहीं होने का सवाल, ऐसे अवयस्क के खिलाफ कार्यवाही की अमान्यता का पता लगाने के लिए निर्धारण कारक नहीं है। ऐसी कार्यवाही अवयस्क के विरुद्ध अमान्य है, भले ही ऐसे दोष के कारण उस पर कोई प्रतिकूल प्रभाव न पड़ा हो।"

(12) यह प्रेक्षित करना दिलचस्प है कि कृष्ण बिहारी के मामले(5) से निपटते समय कौन सा निर्णय वर्तमान मामले के तथ्यों के अनुरूप अधिक है, विद्वान न्यायाधीशों ने इस प्रकार प्रेक्षित किया:

"छठा और आखिरी मामला, जिस पर आश्रय किया गया है, वह कृष्ण बिहारी बनाम केदार नाथ(5) का है, जिसका फैसला माननीय न्यायाधीश नारायण और माननीय न्यायाधीश जमुआर ने किया था। इस मामले में, एकमात्र दोष यह था कि अज्ञानता में एक प्रमाणित संरक्षक के बजाय किसी अन्य व्यक्ति को अवयस्क का संरक्षक नियुक्त किया गया था। यह निर्धारित किया कि चूंकि

अवयस्क के साथ कोई पूर्वाग्रह नहीं हुआ था, और कोई धोखाधड़ी नहीं हुई थी, इसलिए इस अनियमितता ने कार्यवाही को अमान्य नहीं किया।

इस न्यायालय के उपर्युक्त सभी मामलों की समीक्षा करने पर, और, जिन पर अपीलकर्ताओं ने आश्रय किया हैं , इसलिए यह प्रतीत होता हैं कि:

(i) **पांडा सत देव नारायण बनाम रामायण तिवारी, आदि (12. ऐ.आई.आर. 1923, पटना 242(2)** के मामले को छोड़कर, कोई भी मामला ऐसा नहीं था जिसमें आदेश 32, नियम 3(4) का अनुपालन न किया गया हो;
(ii) इनमें से कुछ मामले ऐसे थे जिनमें आदेश 32, नियम 4(3) का उल्लंघन किया गया था, लेकिन न्यायालयों ने, **मोहन कृष्ण धर, आदि बनाम हर पार्षद आदि (13. ए.आई.आर. 1917, पटना 161)** मामले में इस न्यायालय के शुरुआती पीठ के फैसले पर विचार नहीं किया और ना ही इसका संदर्भ नहीं दिया, जो बिल्कुल इस मुद्दे पर था, और, जो विपरीत दृष्टिकोण रखता था।
(iii) बाकी मामलों में, केवल नियुक्ति के औपचारिक आदेश का अभाव था, जिसे **वालियन बनाम बांके बिहारी प्रसाद सिंह (14. आई.एल.आर. 30 कैल. 1021)** द्वारा आच्छादित किया गया था;
(iv) किसी भी मामले में, न्यायालय ने वालियान के मामले(14) के आधार का पता लगाने की कोशिश नहीं की, न ही न्यायालय ने सबसे महत्वपूर्ण तथ्य पर विचार किया कि आदेश 32, नियम 4(3) एक नया प्रावधान था जो पहली बार केवल 1908 की संहिता में था, और 1882 की संहिता में ऐसा कोई समान प्रावधान नहीं था, जिसके आधार पर वालियान के मामले(14) का फैसला किया गया था, और किस तथ्य ने कानूनी स्थिति में कोई भौतिक अंतर डाला; और
(v) पांडा सतदेव नारायण बनाम रामायण तिवारी आदि(12) में भी, माननीय न्यायाधीश पी. आर. दास, जिन्होंने मुख्य निर्णय

सुनाया, जैसा कि पहले कहा गया है, उन्होंने इस न्यायालय के पिछले बेंच के फैसलों जो कि हैं राजेंद्र प्रसाद(4) और मोहन कृष्ण धर, आदि बनाम हर पार्षद आदि(13) के मामले में पर विचार नहीं किया और, न ही, उनके आधिपत्य ने इस तथ्य को ध्यान में रखा कि 1882 की संहिता में, जो वालियान के मामले(14) का आधार था, में1908 की संहिता के आदेश 32, नियम 3(4), या, आदेश 32, नियम 4(3) के समान कोई प्रावधान नहीं था।

इन कारणों से, मुझे नहीं लगता कि उपरोक्त मामले यहां कोई प्राधिकारी हैं। इसलिए, मैं निम्नलिखित का अनुसरण करूंगा, **राजेंद्र प्रसाद बनाम प्रबोध चंद्र मितिया(4)**; **रानी छत्र कुमारी देबी बनाम पांडा राधामोहन सिंह (15. ए.आई.आर. 1922 पैट. 291)**; **खिआराईमल आदि बनाम डेम आदि(16. 32 आई.ए. 23)** और **बारैक राम गोविंद सिंह, आदि बनाम चौरा उराँव आदि (17. ए.आई.आर. 1938 पैट. 97)**और मानते हैं कि संहिता के आदेश 32, नियम 3(4) या यहाँ तक कि आदेश 32, नियम 4(3) की भी अवहेलना करने पर किसी अवयस्क के लिए संरक्षक नियुक्त करने के आदेश को अधिकार क्षेत्र के बिना और अमान्य बना देता है।"

(13) विद्वान न्यायाधीशों के प्रति उचित सम्मान के साथ, मैं उल्लेख कर सकता हूँ कि प्रक्रियात्मक कानून पर रखी जाने वाली व्याख्या के संबंध में संग्राम सिंह के मामले(2) में सर्वोच्च न्यायालय की टिप्पणियों को पूरी तरह से नजरअंदाज कर दिया गया था और साथ ही यह नियम भी यह है कि हर मामले में आदेश 32, नियम 3 के प्रावधानों का अनुपालन न करने पर डिक्री अमान्य हो जाती है। आदेश 32 का उद्देश्य यह देखना है कि अवयस्क के खिलाफ कोई भी डिक्री पारित नहीं की जाती है जहां उन्हें प्रभावी ढंग से प्रस्तुत नहीं किया जाता है। मैंने जान-बूझकर आदेश 32, नियम 3 द्वारा विचारित 'प्रतिनिधित्व' के विपरीत 'प्रभावी रूप से प्रतिनिधित्व' शब्दों का उपयोग किया है। यदि एक अवयस्क का प्रतिनिधित्व संरक्षक द्वारा किया जाता है और अन्य वयस्क प्रतिवादियों के हित उसके साथ समान हैं और वे प्रतिवादी मुक़दमे को प्रभावी ढंग से चला रहे हैं, तो यह शायद ही कहा जा सकता है कि एक

अवयस्क का प्रभावी ढंग से प्रतिनिधित्व नहीं किया गया है। किसी प्रक्रियात्मक कानून के तकनीकी प्रावधानों पर बहुत अधिक जोर देने से समय-समय पर बेतुके परिणाम हो सकते हैं और पार्टियों के साथ अन्याय हो सकता है। यह केवल तभी होता है जब एक न्यायालय इस निष्कर्ष पर पहुंचता है कि अवयस्क का प्रभावी ढंग से प्रतिनिधित्व नहीं किया गया था और इस प्रकार वह वास्तव में कार्यवाही में एक पक्ष नहीं था, जिसका विद्वान न्यायाधीशों द्वारा परिकल्पित परिणाम आवश्यक रूप से आएगा। लेकिन जहां अवयस्क का प्रभावी ढंग से प्रतिनिधित्व किया जाता है, हालांकि तकनीकी रूप से आदेश 32, नियम 3 के प्रावधानों के अनुरूप नहीं है, तो उक्त परिणाम जरूरी नहीं होगा।

(14) रामचन्द्र पीडी सिंह के मामले(7) में तथ्य यह है कि प्रस्तावित संरक्षक को कोई नोटिस नहीं दिया गया था। इसके अलावा, प्राकृतिक संरक्षक की भी अनदेखी की गई। कोई अन्य पक्ष भी नहीं था जो अवयस्क के हितों की प्रभावी ढंग से रक्षा कर सकता था। इसलिए, जहां तक वर्तमान मामले का संबंध है, इस निर्णय से कोई सहायता नहीं मिलेगी।

(15) निर्मल चंद्र रे के मामले(8) में, निम्नलिखित प्रस्ताव रखे गए: -

> (1)जहां किसी मुकदमे में संरक्षक-ऐड- लिटेम के रूप में कार्य करने के लिए न्यायालय की मंजूरी से और कानून के अनिवार्य प्रावधानों के अनुपालन में एक उचित व्यक्ति को नियुक्त किया गया है, ऐसे मुकदमे में पारित डिक्री को संरक्षक-ऐड-लिटेम के रूप में ऐसे व्यक्ति की नियुक्ति के मामले में केवल अनियमितता के आधार पर चुनौती नहीं दी जा सकती है, जिससे कोई पूर्वाग्रह नहीं होता है, जैसे प्रभावी प्रतिनिधित्व के सिद्धांत के कारण नियुक्ति के औपचारिक आदेश का अभाव।

(2) पूर्वगामी सिद्धांत का कोई अनुप्रयोग नहीं है जहां न्यायालय ने संरक्षक-ऐड-लिटेम की नियुक्ति के किसी प्रस्ताव पर विचार नहीं किया है ।

(3) आदेश 32 के नियम 3 के उप-नियम (4) और नियम 4 के उप-नियम (3) के प्रावधान अनिवार्य हैं और इन प्रावधानों की पूर्ण उपेक्षा में एक अवयस्क के खिलाफ प्राप्त डिक्री क्षेत्राधिकार के बिना और आरंभ से ही शून्य है।

पीठ का गठन करने वाले विद्वान न्यायाधीशों में से एक, न्यायाधीश बनर्जी ने अग्रसर प्रेक्षित किया : -

"(16) पर्याप्त प्रतिनिधित्व का सिद्धांत सार का मामला है न कि रूप का। जहां एक संरक्षक द्वारा एक मुकदमे में एक अवयस्क का प्रभावी ढंग से प्रतिनिधित्व किया गया था, हालांकि औपचारिक रूप से नियुक्त नहीं किया गया था, और अनौपचारिकता के कारण कोई पूर्वाग्रह नहीं हुआ, तब संरक्षक की नियुक्ति के औपचारिक आदेश का अभाव मुकदमे के लिए घातक नहीं है।"

यह निर्णय दर्शाता है कि केवल वहीं जहां अवयस्क का वास्तव में या कानून में प्रतिनिधित्व नहीं किया गया है, वहां उसके खिलाफ दिया गया निर्णय अमान्य होगा। लेकिन जहां अवयस्क का पर्याप्त प्रतिनिधित्व है, वहां निर्णय अमान्य नहीं होगा, जब तक कि अवयस्क को आदेश 32, नियम 3 के प्रावधानों का अनुपालन न करने के कारण पूर्वाग्रह का सामना नहीं करना पड़ा हो।

(17) गोविंदन के मामले(9) में, यह प्रेक्षित किया गया कि "अवयस्क के प्राकृतिक अभिभावकों को संरक्षक के रूप में नियुक्त करने में विफलता केवल प्रक्रिया में अनियमितता नहीं है"। इस मामले में, कानूनी अभिभावकों को संरक्षक-एड-लिटेम के रूप में नियुक्त करने का कोई प्रयास नहीं किया गया। तुरंत एक कोर्ट संरक्षक नियुक्त किया गया। इसलिए, यह मामला अलग है।

(18) इंद्रपाल सिंह के मामले(10) में, सवाल यह नहीं था कि संरक्षक की नियुक्ति आदेश 32, नियम 3 के प्रावधानों के अनुसार नहीं थी, बल्कि संरक्षक ने मुकदमे में अवयस्क का उचित प्रतिनिधित्व नहीं किया था। यह संरक्षक की लापरवाही का मामला था और **द्वारिका हलवाई बनाम सीतला प्रसाद (18. एआईआर 1940 इलाहाबाद 256)** पर आश्रय करते हुए, जिसमें निम्न लिखा है:-

> "यहां तक कि जहां किसी व्यक्ति को संरक्षक के रूप में नियुक्त करने का आदेश था, अगर वह संरक्षक अवयस्क का उचित रूप से प्रतिनिधित्व नहीं करता है, तो डिक्री अवयस्क पर बाध्यकारी नहीं होगी। ऐसी डिक्री शुरू से ही अमान्य होगी और न सिर्फ़ केवल रद्द करने योग्य होगी।"

अभिनिर्धारित हुआ की -

> " केस लॉ इस प्रकार बिल्कुल स्पष्ट है कि एक अवयस्क के खिलाफ एक डिक्री शुरू से ही शून्य और अमान्य है, अगर यह एक ऐसे मुकदमे में पारित किया गया है जिसमें अवयस्क का कोई संरक्षक नियुक्त नहीं किया गया है या संरक्षक की नियुक्ति अमान्य है या वैध रूप से नियुक्त किया गया है लेकिन संरक्षक अवयस्क का उचित प्रतिनिधित्व नहीं करता है। इसलिए, निचली अदालत द्वारा निर्धारित कानून का प्रस्ताव गलत है।"

(19) रंगम्मल के मामले में(11), निर्मल चंद्र रे के मामले(8) (सुप्रा) में माननीय न्यायाधीश बनर्जी की टिप्पणियों को मंजूरी दी गई थी। ये टिप्पणियाँ विद्वान अधिवक्ता द्वारा दिए गए तर्क के विपरीत हैं जिसके लिए इस प्राधिकारी का हवाला दिया गया है।

(20) अब, मैं उत्तरदाताओं के विद्वान अधिवक्ता द्वारा उद्धृत मामलों से निपटने के लिए आगे बढ़ता हूं। **रामास्वामी चेट्टी बनाम**

दोराईसामी चेट्टी(19. ए.आई.आर. 1923 मैड.465) में, पिता को कोई नोटिस नहीं दिया गया और एक कोर्ट संरक्षक नियुक्त किया गया। पिता स्वयं मुकदमे में एक पक्ष थे और यह निर्धारित किया गया कि
हेड क्लर्क की नियुक्ति के बारे में पिता को नोटिस न देना केवल एक अनियमितता होगी जो संरक्षक के रूप में नियुक्त व्यक्ति की ओर से धोखाधड़ी या घोर लापरवाही के सबूत के अभाव में कार्यवाही की वैधता को प्रभावित नहीं करेगी।

(21) **कुमारा कांगया 'गौंडर बनाम अरुमुघा गौंडर (20. ए.आई.आर. 1970 मैड. 179)** द्वारा रामास्वामी चेट्टी के मामले (19) (सुप्रा) में की गई टिप्पणियों को मंजूरी दी गई।

(22) **किदाम्बी रितुमालाचार्युलु बनाम अमीसेट्टी वेंकैया (21. 80 आई.ए. 541)** में, श्री न्यायमूर्ति वालेस ने इस प्रकार प्रेक्षित किया: -

> "सिविल प्रक्रिया संहिता के आदेश XXXII, के नियम 3 के अनुसार आवश्यक नोटिस भेजने में चूक के माध्यम से कोई भी अनियमितता, किसी मुकदमे में अवयस्क प्रतिवादियों के अनुमानित प्रतिनिधित्व को अमान्य करने के लिए काम नहीं कर सकती है, जब तक कि इस तरह की चूक ने वास्तव में उनके बचाव पर प्रतिकूल प्रभाव न डाला हो, और ऐसा पूर्वाग्रह धारणा या अनुमान का नहीं बल्कि सबूत का मामला है।
>
> यह प्रश्न कि क्या चूक ने वास्तव में बचाव पर प्रतिकूल प्रभाव डाला है, यह अग्रसर प्रश्न पर निर्भर करेगा कि क्या अवयस्क के पास अच्छा बचाव था और क्या नियमों का पालन करने में चूक और न्यायालय संरक्षक की नियुक्ति के कारण उस बचाव को बंद करने का प्रभाव पड़ा था ।"

(23) राम रेखा सिंह बनाम गंगा प्रसाद मुकरध्वज **(22. एआईआर 1926 इलाहाबाद 545 (अफ. बी.)** के मामले में यह प्रेक्षित किया गया कि: -

"यह मानते हुए कि पिछले मुकदमे में संरक्षक ऐड-लिटेम की नियुक्ति में ऐसी अनियमितताएं हुई हैं कि वादी को प्रश्न को फिर से खोलने का अधिकार मिल गया है, वे केवल अनियमितताएं दिखाकर सफल नहीं हो सकते जब तक कि वे न्यायालय को संतुष्ट नहीं कर लेते कि उनके साथ पक्षपात किया गया है और उन्हें कुछ अच्छे बचाव से वंचित किया गया है जो कि था और उनके लिए खुला है।"

(24) मेरे सामने उद्धृत मामले के कानून को पढ़ने के बाद, मैं इस निष्कर्ष पर पहुंचा हूँ कि प्रत्येक मामले का निपटारा उसके अपने तथ्यों के आधार पर किया जाना चाहिए और कोई सामान्य नियम निर्धारित करना उचित नहीं होगा। मामले की जड़ यह है कि यह देखना होगा कि मुकदमे में अवयस्क का प्रभावी प्रतिनिधित्व था या नहीं। यदि वह था, तो आदेश 32, नियम 3 के प्रावधानों, जो अनिवार्य हैं, का अनुपालन न करने से निर्णय अमान्य नहीं होगा। लेकिन अगर गैर-अनुपालन के कारण अवयस्क पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ा है या उसका प्रभावी प्रतिनिधित्व नहीं किया गया है, तो निर्णय निरर्थक हो जाएगा, यानी, अवयस्क या तो इसे अनदेखा कर सकता है या इससे बच सकता है। यह दृष्टिकोण न्याय के अनुरूप है क्योंकि जहां मामले का ठीक से विरोध किया गया है और अवयस्क के साथ कोई पूर्वाग्रह नहीं हुआ है, मामले को फिर से खोलना दूसरे पक्ष के साथ सरासर अन्याय होगा। मुक़दमा, एक बहुत महंगा मामला है और कानून का सामान्य सिद्धांत यह है कि इसे प्रोत्साहित नहीं किया जाना चाहिए। मामले के इस दृष्टिकोण में, जहां तक वर्तमान मामले के तथ्यों का सवाल है, इसमें कोई दो राय नहीं हो सकती है कि अवयस्क का प्रभावी ढंग से प्रतिनिधित्व किया गया था और उनके साथ कोई पूर्वाग्रह नहीं हुआ है। उनके हितों की रक्षा उनके भाइयों द्वारा प्रभावी ढंग से की जाती थी, जो उनके साथ सह-प्रतिवादी थे और जिनके हित समान थे। उन्होंने सभी संभावित आधारों पर मुकदमा लड़ा। अवयस्क के लिए विद्वान अधिवक्ता, हमारे ध्यान में कोई सबूत या कोई विवाद लाने में असमर्थ रहे हैं जिससे हम यह मान सकें कि एक गलत डिक्री प्राप्त की गई थी।

(25) ऊपर दर्ज कारणों से, यह अपील विफल हो जाती है और खारिज कर दी जाती है। लागत के रूप में कोई ऑर्डर नहीं होगा।

माननीय न्यायाधीश श्री आर.एस. नरूला - मैं सहमत हूँ।
माननीय न्यायाधीश श्री प्रीतम सिंह पट्टर - मैं सहमत हूँ।

अस्वीकरण : स्थानीय भाषा में अनुवादित निर्णय वादी के सीमित उपयोग के लिए है ताकि वह अपनी भाषा में इसे समझ सके और किसी अन्य उद्देश्य के लिए इसका उपयोग नहीं किया जा सकता है । सभी व्यवहारिक और आधिकारिक उद्देश्यो के लिए निर्णय का अंग्रेजी संस्करण प्रमाणिक होगा और निष्पादन और कार्यान्वयन के उद्देश्य के लिए उपयुक्त रहेगा ।

ऋतु तंवर
प्रिशक्षु न्यायिक अधिकारी
(Trainee Judicial Officer)
हरियाणा न्यायिक सर्विसेज़